शहर कोतवाल की कविता

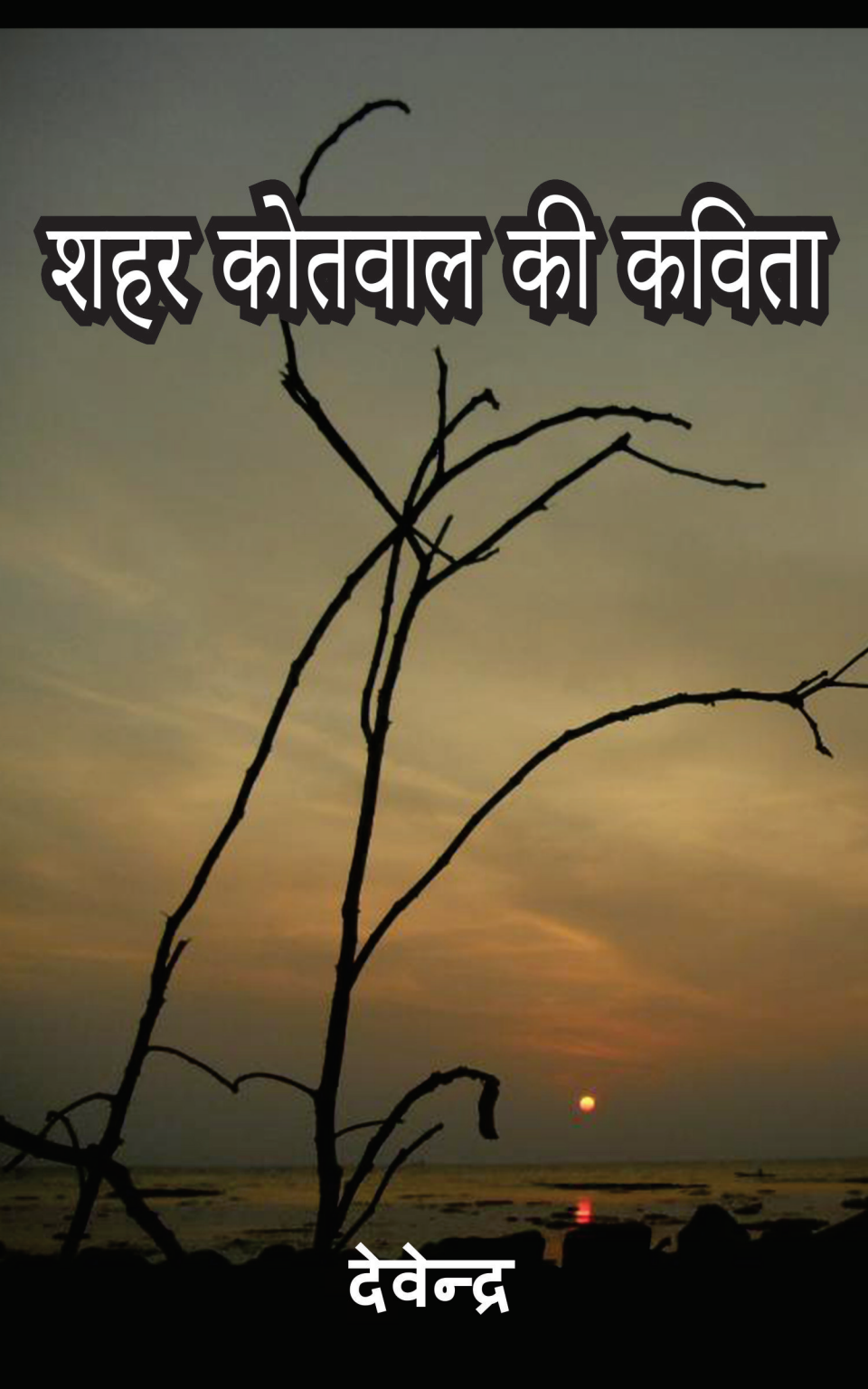

देवेन्द्र

शहर कोतवाल की कविता

देवेंद्र

बात 1974 की है। रोज-रोज हड़ताल होती थी, आफिसों का घेराव होता था। शहर की हालत यह हो गई कि जुलूस और प्रदर्शन से अलग उसके बारे में कोई बात ही नहीं की जा सकती थी। उन्हीं दिनों किसी पहाड़ी इलाके से ट्रांसफर होकर एक कोतवाल शहर में आया। मैं यह तो नहीं कह सकता कि वहाँ किन परिस्थितियों में वह कैसे रहता था, लेकिन शहर में आने के करीबन महीने भर बाद ही चाय और पान की दुकानों पर बैठे लोग किसी-न-किसी बात को लेकर अक्सर उसकी चर्चा करने लगते। उसके बारे में लोगों की धारणा किसी अच्छे आदमी के रूप में कभी नहीं थी।

एक दिन दोपहर के समय जब सड़क रोज की ही तरह साइकिलों, रिक्शों और सिटी बस के बीच बिल्कुल दब-सी गई थी, कहीं से घूमता हुआ शहर कोतवाल आया। उसके साथ दो-चार कांस्टेबुल थे। कोई जानता भी नहीं था कि क्या होने वाला है। शहर के लिए इस तरह रोज घंटों ट्रैफिक का जाम होना आम बात थी। रिक्शेवाले सवारियों को बैठाए बीच सड़क पर मजे से पसीना पोंछ रहे थे। तभी अचानक एक कोने से जोर की भगदड़ मची। कुछ चीख पुकार सुनाई पड़ी। भागने की जगह थी भी कहाँ? लोग एक-दूसरे के ऊपर गिर रहे थे। शहर कोतवाल का मोटा डंडा बेरहमी से रिक्शा वालों की नंगी पीठ पर बरस रहा था। अभी थोड़ी देर पहले तक जो स्कूली छोकरे सायकिलों पर इत्मीनान से पैर टिकाए बगल में रिक्शे पर बैठी किसी लड़की को ताकते हुए रूमाल से हवा कर रहे थे-वे भी डंडे की मार से नहीं बचे। ज्यादा समय नहीं लगा होगा, सड़क एकदम वीरान हो गई। कुछेक भद्र पुरुष और रिक्शे वाले खून से लथपथ बेहोश थे। कुछेक रिक्शों पर किसी तरह सही-सलामत बच गए। बच्चे दूर-दूर तक भी अपने माँ-बाप को न पाकर चिल्ल-पों कर रहे थे। पूरी सड़क, उलटे-पुलटे रिक्शों और साइकिलों से पटी पड़ी थी। अगल-बगल की दुकान वाले कुछ समझने से पहले शटर गिराकर गायब हो चुके थे। उस दिन पहली बार लगा दिन को भी रात बनाया जा सकता है। शहर कोतवाल अभी तक जोर-जोर से गालियाँ देता हुआ खुली सड़क पर हाँफ रहा था। कुछ लोग जो किसी तरह कोने में दुबके हुए बच गए थे, बता रहे थे कि कांस्टेबुलों तक के चेहरे पर हवाई उड़ रही थी।

यह पहला दिन था जब कोतवाल अपनी कोतवाली से बाहर खुली सड़क पर आ गया। शाम के समय चौराहों, नुक्कड़ों और चाय की दुकानों पर सायंकालीन अखबारों में छपे सड़क के मातमी दृश्य और कोतवाल

की फोटो को देखते हुए लोग इस बात को बहस का विषय बनाए हुए थे। सबको पक्का यकीन था कि इतने हो-हल्ले के बाद तो सरकार किसी भी तरह इस कोतवाल को बर्दाश्त नहीं करेगी। मुअत्तल न भी करे तो भी कुछ-न-कुछ जरूर करेगी, लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ।

वह रोज शाम को सड़क पर निकलता और भीड़ छँट जाती। जिसकी ओर देखकर मुस्कराता उसका दिल दहल जाता। वर्दी में मुस्तैद, मूँछों को ऐंठता, मोटा डंडा लिए हुए वह अक्सर अपने हेड कांस्टेबुल के साथ ही निकलता। सड़क पर आते ही दोनों एक दूसरे की आँखों में आँखें डालते, मूँछे ऐंठते, मुस्कराते फिर जोर से ठठाकर हँसते और शिकार की तलाश में निकल पड़ते साल के भीतर उन्होंने एक पर एक कई हमले किए। इस बीच कितनी औरतें बेवा हुईं, कितनी कालेज से लौटती लड़कियाँ रात-रात भर गायब रहने के बाद गंगा में उतराती मिलीं, कितनी बार जुलूस निकले, अखबार चिल्लाए लेकिन दोनों के व्याकरण में कोई तब्दीली नहीं आई। रात के समय शरीफ हों या उचक्के दोनों ने घूमना बंद कर दिया था। क्या पता किधर हो कोतवाल और किसका मुकाबला हो जाए उसके साथ।

एक दिन रात के दस बज रहे थे। वह घूमता हुआ चौराहे की ओर आया। इधर उसका आना कम ही होता था। उस दिन वह पप्पू की चाय की दुकान के सामने से गुजरा। रोज की ही तरह वहाँ भीतर से जोर-जोर की आवाज आ रही थी। कोतवाल रुक गया। कुछ जाँचने की मुद्रा में उसने कांस्टेबुल की आँखों में देखा, कांस्टेबुल बोला - 'साहब, शहर के छँटे हुए लफंगे, रोज रात तक यहाँ अड्डा मारते हैं।'

कोतवाल मुस्कराया, उसने और जानकारी बढ़ाई - 'इनमें कोई पत्रकार है, कोई साहित्यकार और कोई उभरता हुआ नेता। सबके सब मेहतरों की बस्ती की तरह हाँव-हाँव, किच-किच करते हैं। न कोई काम, न धंधा, बस देश की चिंता। इसके मारे तो जी-आजिज आ गया है। क्या आपको इनकी बाबत कुछ भी पता नहीं था।'

कोतवाल उदास हो गया, बोला - 'सुनो दीनानाथ, मैं अगर सरकार होता तो देश भर में चाय और पान की दुकानें बंद करा देता। वह ऐसा रथ है जिस पर बैठकर निकम्मी राजनीति चारों ओर घूमती है।'

कांस्टेबुल भी उदास हो गया। आधे मिनट तक चुप-चुप दोनों एक-दूसरे की आँखों में आँखें डालकर देखते रहे। हल्के से मुस्कराए फिर जोर से ठठाकर हँसे। उनका हँसना इतना भयावह था कि चाय बनाता पप्पू गिरते-